'प्रतिमान' और 'विमर्श' पर एक बहस

– रोहिताश्व

आलोचना और प्रत्यालोचना के तुमुल कोलाहल में कई सारे पाठ, 'विमर्श' और 'प्रतिमान' के शेयर मार्केट विभिन्न प्रतिष्ठानों, संस्थानों, आकादमियों और विश्वविद्यालयों में खुल रहे हैं। सरकारी कला-भवनों, प्रकाशक बंधुओं और प्रायोजित कर्मकाण्ड से जिनके नित नये-नये मार्केट, माल, पैलेस बन रहे हैं। कहना न होगा कि धर्म धुरन्धर प्रोफेसर, परम पूज्य लेखक, अखाडेबाज सम्पाक और खण्ड-खण्ड पाखण्ड पर्व के मठाधीशों में घोषित – अघोषित 'प्रतिमानों' और 'विनशों' की अन्तहीन बहस जारी है।

इक्कीवसवीं शताब्दी के पहले-दूसरे दशक में आलोचना-सृजना के एरेना-क्षेत्र में, कई सारे नये-पुराने धनुर्धर, मिसाईल-तोपची अपनी जंग लगी तलवारें भॉजकर और टूटे हुए रथ के पहिये घुसा-घुसाकर हवा में अपने प्रतिमानों की सरकारी बोली लगा रहे है। मुआमला चाहे रसवादी, अवसरवादी आलोचना का हो या प्रगतिशील आलोचना का। शैली वैज्ञानिक आलोचना का हो या समाजशास्त्रीय दाँवपेंच की आलोचना का। सौंदर्य शास्त्रीय, मनोविश्लेषण वादी, अस्तित्ववादी, उत्तर आधुनिकतावादी, कला के आतंवादी तांत्रिक, स्त्री-विमर्श, दलित विमर्श, खंडनवादी – विखंडनवादी पुरोहित, पक्षधर अघोरी – पाखण्डी समीक्षक और विमर्शकारी बँधुओं ने जो हँगामा बरपाया है उससे क्या कोई रचनाकर बन्धु-बांधव प्रभावित हुआ है? चाहे वह कोई गुमनाम कवि हो या स्वनामधन्य रचनाकार, नया कथाकार-उपन्यासकार हो अथवा पुराना नाट्य कर्मी-फिल्म निर्देशक। यही हश्र स्त्री रचनाकारों का भी है।

महाकाव्यात्मक उपन्यास लेखन के दावे तो बहुत हुए हैं पर क्या नयी पीढी क्लासिकल और लोकप्रिय

परम्परा में, गोरा, गोदान, आनंदमठ, उमराव जान 'अदा', मुर्दो का टीला, आग का दरिया, सहस्रफण, बाणभट्ट की आत्मकथा, हाल मुरीदों का, नदी के द्वीप, तमस, ऐवाने - गजल, चाक, आवाँ, कथा सतीसर, संस्कार, इदन्नमम अग्निगर्भ, उपन्यासों कार्मेलीन, युगसाँवर, आदि की सरहदें पार कर सकी है सृजना के स्तर पर।

सवाल यह भी है कि क्या कोई आलोचना की प्रविधि, पाठ, स्वपक्ष या उत्तरपक्ष की मीमांसा पढकर रचनाकर्म में प्रवृत्त होता है? जी नहीं, नहीं, नहीं। रचना तो हरावल दस्ता होती है और आलोचना हरावल दस्ते की मशाल, तेल, तोप-बारूद, गोली, मिसाईल और तारपीडो के साज-सामान का इन्तजाम भर। यह रूपक चर्चा नहीं, सत्य कथन है साँई।

'अंधेर नगरी' जैसी रचना न तो 'आनन्द-कादम्बिनी' पवित्रका पढकर लिखी गयी है और न ही 'जुही की कली' कविता निराला ने कभी महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'सरस्वती' पत्रिका पढकर लिखी है। आखिरकार आलोचक की हैसियत ही क्या है? किसी ने कुछ सार्थक लिखा, पढा, जाना तो उस पर सकारात्मक या नकारात्मक प्रतिक्रिया करनेवाला जीव मात्र, या और कोई अहम शख्सियत उसकी मानी जा सकती है?

अक्सर व्यंग्योक्ति में कहा जाता है कि रचनाकार सृजनात्मक जीव है तो आलोचक उपजीव्य। मुख्य कार्यकर्ता तो रचनाकार है बेचारा आलोचक - समीक्षक उसके कर्म की नुक्ताचीनी करनेवाला अथवा प्रशंसा या बुराई करनेवाला सहयोगी प्राणी। हालाँकि 'सृजनात्मक आलोचना' और 'तटस्थ-निर्वैयक्तिक आलोचना' का मुहावरा भी यारों ने खूब चलाया है। कहीं-कहीं पर इण्टरडिसिप्लिनरी एप्रोच की बात भी कारगर भूमिका अदा करती है। पर सार्थक तथ्य तो यह है कि रचना लिखना आसान है क्योंकि रचना तो अपने सामाजिक-आर्थिक, राजनैतिक-सांस्कृतिक परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया है अथवा ऐतिहासिक गतिरोध, गत्यात्मक कालक्रम में रीत-विपरीत भाव की सृजनात्मक मीमांसा। कहानी या कविता प्रतिक्रिया है क्षण-विशेष की अनुभूति या मार्मिक - तार्किक परिणति में, तो महाकाव्य - खण्ड काव्य, उपन्यास लेखन आदि अपने 'विजन', दर्शन, विचारधारा, के साये में कथ्य और शिल्प के विलक्षण पैटर्न में युग-संधान की प्रतीति। यह हश्र हम 'कामायनी' और 'गोदान' के साक्ष्य में देख सकते है, जो एक ही एतिहासिक दौर में, वीसवीं शताब्दी के चौथे दशक की पद्य और गद्य विद्या की बेमिमसाल रचनाएँ हैं। पर यह तय है कि जिस प्रकार 'रामचरितमानस' के प्रति विभिन्न वर्गो के पाठकों की राय एक जैसी नहीं होगी और उसी प्रकार 'चाक' या 'छिन्नमस्ता' के पाठकों की राय अपनी वर्गीय प्रवृत्ति, अभिरूचि के स्तर पर एक जैसी होगी।

पर 'प्रतिमान' कौन से कारगर होंगे? हमने वीसवीं शताब्दी की आलोचना - परिपाटी में 'कविता के नये प्रतिमान' अलग बनाये है, तो कहीं-कहीं 'रूपक - महाकाव्य' और मिथकीय काव्य के नये प्रस्थान बिन्दु भी। गद्य लेखन को पण्डितों ने अन्यतम कसौटी माना है, सृजन के स्तर पर। पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय सामन्ती उत्पीडन के, परिवर्तित चिन्तन प्रणाली और पूँजीवादी शोषण के सन्दर्भ में प्रतिकार हेतु (बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चार दशकों के बिम्ब-प्रतिबिंब हेतु) 'कामायनी' ज्यादा सार्थक कृति है या

गोदान? वर्ग-संघर्ष और वर्ग-चेतना के परिवर्तनशील परिदृश्य में जयशंकर प्रसाद ज्यादा सार्थक रचनाकार है या प्रेमचन्द? चाहे हमारे 'प्रतिमान' और 'विमर्श' क्लासिकल परम्परा के हो या लोक परम्परा के, चाहे वे कलावादी हो या प्रगतिशील-जनवादी। हम 'समग्रता' के परिप्रेक्ष्य वाले प्रतिमान क्यों नहीं तय कर पाते है?

मध्ययुगीन काव्य और रीतिकाव्य के क्षेत्र में हमारे पुरोधा, धर्म धुरन्धर, स्वनाम धन्य आलोचक, 'स्वकीया' और 'परकीया', ब्रह्म और माया, राज्याश्रयी और जनाश्रयी, पुनर्जागरण और मानवतावादी, 'परम्परा की खोज' और 'ऐतिहासिक परिवेश की मीमांसा' का खेल खूब खेल चुके हैं, मुग्धा, प्रौढा, वयःसंचि की हाल-बेहाल दशा का 'रसवादी, कलावादी' आलोचक अपना वर्णन बडे मनोयोग से कर चुके हैं, प्रेम की पीर केरसिया, मुहब्बत के मुर्शद तो वे थे ही। पर नवजागरण की प्रतीति में, भारतीय काव्यशास्त्र की रस, ध्वनि, औचित्य, रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदाय के मापदण्डों की परम्परा में वे क्या 'कामायनी' और 'गोदान' के मूल्यांकन के समवेत प्रतिमान निर्धारण कर पायें हैं? चाहे वे हजारी प्रसाद द्विवेदी हो या नन्द दुलारें वाजयपेयी, चाहे वे रामविलास शर्मा हो या नामवर सिंह। क्या हम पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अनुकरण, विरेचन, उदात्तता, निर्वेयक्तिकता, मूल्य और सम्प्रेषण के प्रत्यय - पद के तले 'काव्य और उपन्यास' के मूल्यांकन सम्बन्धी समावेशी प्रतिमान निर्धारित कर पाये हैं?

अजीब मजाक है और तमाशा भी, हमारे शिक्षा-संस्थानों, पत्रिका-प्रकाशन संस्थानों में अक्सर ऐसे रचनाकार या आलोचक प्रवर मिल जाते हैं, जो यह कहते हैं कि भाई तो हम तो कविता के पाठक-पण्डे हैं, उपन्यास नहीं पढते हैं।। हम तो कहानी के ज्ञाता हैं नाटक - फाटक के प्राध्यापक और ढकोसले अलग हैं। हम तो रसवादी, मानवतावादी, काव्यशास्त्र के प्राध्यापक - पाठक है ये स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, विखंडनवादी, उत्तरआधुनिकतावादी, संचार-माध्यम, फिल्म-पटकथा लेखन आदि नये दौर के सब नये चोंचले हैं। हमसे उनका क्या नाता। साथियों को याद होगा आखिरकार राजेन्द्र यादव ने क्यों अपना विवादास्पद लेख ''होना, सोना, खूबसूरत दुश्मन के साथ' नामवर सिंह के परम पूज्य चरणों में अर्पित किया था? वकौल भारत भारद्वाज के, जो 'वर्तमान साहित्य' पत्रिका और अन्य पत्रिकाओं में चर्चा का विषय रहा है और तो और विभूतिनारायण राय ने 'स्त्री लेखन' और 'स्त्री विमर्श' पर जो पुलिसिया टिप्पणी की थी... वह कालान्तर में किस 'प्रतिमान' या विमर्श' का बायस रही है?

संरचनावादी, विखंडवादी उत्तर आधुनिकता वाली आलोचना पद्धति और फिल्मों के समाजशास्त्र व सौंदर्यबोध पर पिछली पीढी के आलोचक अथवा प्राध्यापक अक्सर नाक - भौं सिकोडते हैं। अज्ञानी, पिष्टपेषण पद्धति के कार्मकाण्ड में उलझे-सुलझे पाखण्डी-पण्डो' से अब क्या कहना? 'छायावाद का 'सौंदर्यशास्त्र' रचनेवाले 'व्यावहारिक समीक्षा' की नारेबाजी करने वाले सूर्यप्रसाद दीक्षित और ट्यूटोरियल क्लासेस चलानेवाले गाईड, लेखक रामकिशोर शर्मा से 'लखनऊ स्कूल' और 'इलाहबादी स्कूल' के नये

आलौचक अथवा पाठक क्या अपेक्षा रख पायेंगे? पर यह भी सच है कि 'विमर्श' के नये कठमुल्ले या नवे तुर्क-रिक्रूट-बाँगरू जान न तो अपनी पूर्व परम्परा को जानने का प्रयास करते है और न ही विविध... गद्य-पद्य विधाओं की श्रेष्ठ रचनाओं का पाठ, असावाद या उन्हें आत्मसातीकरण करना चाहते हैं।

'कामायनी' भारतवर्ष के विभिन्न विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग में समादृत है, ... पर पूरी 'कामायनी' पढने या पढाने का हौसला किसे है? केवल तीन या चार सर्ग के पाठ व गाईडनुमा विवेचन में इतिश्री मान ली जाती है। बेचारे मुक्तिबोध ने 'कामायनी : एक पुनर्विचार' नामक मीमांसापरक संश्लेषण 'विचारधारा और फैण्टेसी शिल्प' के संदर्भ में जो विवेचन किया था। ... वह क्या कभी हमारी विश्वविद्यालयीन आलोचना-प्रत्योलचना का आधार बना है? नहीं साहब, ... जी, नहीं । नगेन्द्र या निर्मला जैन ने कभी 'रस सिद्धांत और मनोविश्लेषण' का आधार लेकर जो समीक्षापरक कार्य 'छायावाद' के सन्दर्भ में किया है, उसका पुनर्विवेचन या पुनर्मूल्यांकन हुआ है? यहाँ कृष्णदत पालीवाल भी मुँहदेखी या अवसरानुकूल बात कर जाते हैं।

साहित्य के क्षेत्र में 'प्रतिमानों की पुरोहिती' का व्यापार... किसी अण्डर ग्राउण्ड माफिया - गिरोह के कर्म काण्ड या हवाला काण्ड से कम जटिल ताने-बाने का नहीं है! और 'विमर्श की नौटंकी' में नये-पुराने रणबाँकुरे या धुरन्धर मस्किटेयर्स... जो नयी-नयी बाँक देते हैं तो लगता है कि आलोचना का सूरज उनकी ही हाँक या बाँक सुनकर अपनी गर्दन ऊपर उठाता है। चाहे वे दिल्ली-कॅम्पस के जीव हो या भोपाल - भवन के । शीर्षक भी उनके बडे शगूफे या तिलिस्मी भावबोध के होते है - 'सुन्दर का स्वप्न' अथवा 'कविता का व्योम' और 'व्योम की कविता' आदि आदि! आगे चलकर वे 'देह की गेह' या 'गेह की देह' तक तरक्की करने का हौसला रखते होंगे! शायद अपनी गोबर - गणेश रचना - समीक्षा में!

आम पाठक या सामान्य रचनाकार की हैसियत से सोचता हूँ कि हम जिस प्रकार 'रचनाकार की वर्ग चेतना, प्रतिबद्धता, परिवेश की अंकन क्षमता, मूल्य बोध, सप्रेषणीयता, सौंदर्य बोध और समाजशास्त्रीय सन्दर्भो से 'कृति' कृतिकार और पाठकीय प्रभाव' की अभिशंसा या मीमांसा करते हैं, .. उसी प्रकार आलोचक की वर्गचेतना, समझ, प्रवृत्ति अभिरूचि, संवेदना, तकनीकी कौशल, भाषा-शिल्प सम्बन्धी सजगता, विश्लेषण पद्धति का मूल्यांकन क्यों नहीं करते है? जो विभिन्न वर्गो, क्षेत्रों, परम्पराओं और प्रवृत्तियों के नर-शार्दूल हैं। वैसे प्रकाशन तंत्र और प्रायोजिक कार्यशालाओं की भूमिका भी कम महत्व की नहीं होती है।

रचनाकार जिस प्रकार अपनी वैचारिक-दार्शनिक समझ, संवेदना, अनुभूति और शिल्प सजगता से 'कृति' को समग्रता के रूप में, युगबोध या धरोहर के रूप में रखना चाहता है, क्या पाठक या आलोचक उसे वैश्विक परिदृश्य में वर्ग चेतना केप्रतिफलन, मानवीय जिजीविषा, मूल्याबोध के अंकन, सौन्दर्यबोधी - समाजशास्त्रीय विवेचन में (क्रिएटिव प्रोसेस) सृजनात्मक प्रक्रिया में पुनःसृजित कर पाता है। 'विजन' और 'समग्रता' के अँकन और शिल्प वैशिष्ट्य के प्रतिबिम्बन व साँचे-पॅटर्न प्रायः हर रचनाकार और आलोचक के लिए चुनौती होती है। यह अकारण तथ्य नहीं है कि कभी तारसप्तक (1943) के प्रकाशन के डेढ वर्ष बाद अज्ञय ने शमशेर से

उसके समीक्षण – विश्लेषण के लिए आग्रह किया था। यह रचनाकार, संपादक और आलोचक का द्वंद और कलात्मक परिणति व मीमांसा का आग्रह भी माना जा सकता है अथवा 'विजन' और 'शिल्प' के 'प्रतिमान' और 'विमर्श' के दो दिग्गजों का सहवर्ती प्रयास भी।

'प्रतिमानों की पुरोहिती' के पद–प्रयोग में एक व्यंग भी अनुस्यूत है। कारण आज से लगभग तीर–पैतीस वर्ष पहले हमारे वाचिक परम्परा के मसीही – आलोचक नामवर सिंह भारत वर्ष के विभिन्न विश्वविद्यालयों में घोषणा – प्रवचन करते फिरते थे, ... 'हिन्दी मे केवल ढाई आलोचक है' एक शुक्ल, दूसरे द्विवेदी जी और तीसरे आधे आलोचक है रामविलास शर्मा! XXX मैं तो पूजा का थाल लिये (गीत – प्रगीत के सुमन का) सरस्वती के मंदिर में अर्चना – आराधना के लिए गया था। लेकिन देखा कि लगातार कई भक्तों – साधकों – आराधना करने वालों (कवि, कथाकार, आलोचक) की लगातार आवाजाही से मंदिर का प्रांगण ही मटमैला, धूल–धूसर हो गया है। तब से अपनी पूजा का थाल (काव्य सृजन की राह) छोडकर बुहारने – सँवारने (आलोचना) के कर्म को अपना रहा हूँ। ''वाह क्या सादगी है ... पारसी नाटक की शैली में, कौन न मर जाये ऐ खुदा / उनकी इस सादगी पर।'' आखिर वे हमारे दौर के एक श्रेष्ठ आलोचक हैं।

वकील शमशेर के ये हमारे सैय्यद नामवर... हिन्दी–उर्दू के ज्ञाता ही नहीं है बल्कि हजारी प्रसाद द्विवेदी के संपर्क – संसर्ग और सोजन्य से भारतीय काव्यशास्त्र के मार्मिक ज्ञाता भी बने हैं। एफ. आर. लिविस, क्लीन्थ बुक्स और एलेन टेट के मोहजाल में निमग्न होकर वे हिन्दी आलोचना में 'अर्थ मीमांसा और नयी समीक्षा पद्धति के अभूतपूर्व प्रणेता बने हैं। 'वाद–विवाद–संवाद' की पोलेमिकल–शैली उनके लिए शाब्दिक क्रीडा है और 'दूसरी परम्परा की खोज' याने 'क्लासिकल परम्परा और 'लोकप्रिय जन परम्परा' का संतुलन साधनेवाला शातिर औदात्य (बाबा विश्वनाथ या कार्ल मार्क्स माफ करे मुझे इस पद – प्रयोग की गुस्ताखी के लिए) भी उमके है। यह अलग बात है कि आलोचना कर्म से संवाद रखनेवाले मैनेजर पाण्डे उन्हें कभी – कभार हिन्दी में समाजशास्त्रीय आलोचना का प्रणेता तसलीम कर लेते हैं। भले ही वे नामवर सिंह को हिन्दी का जार्ज लूकाच और लुई अल्थूसर न माने।

अक्सर आलोचना के सप्त ऋषियों को हम, ... रामविलास शर्मा को... जॉर्ज लुकाच, मुक्तिबोध को टी. एस. इलियट, नामवर सिंह को, एफ. आर. लीविस, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय को, रेमण्ड विलियम्स, मैनेजर पाण्डेय को राल्फ–फाक्स, शिवकुमार मिश्र को... अर्नेस्ट फिशर आदि के समकक्ष मान लेते हैं। और नये–पुराने मुर्शद, पीर–पैगम्बर सयीद अपने–अपने 'प्रतिमानों की पुरोहिती में... काव्य सृजन, उपन्यास लेखन, संस्मण–रिपोर्ताज अंकन को, अलग–अलग विधाओं, साँचों, पेटर्न–शिल्प में बॉटकर खण्ड–खण्ड पाखण्ड पर्व में सरापा निमग्न रहते हैं।

'समग्रता' के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न विधाओं और रूपों के प्रतिमान कि ही नियत हो पाये हैं। जबकि रामविलास शर्मा ने 'आस्था और सौंदर्य' ग्रंथ में 'सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता' से लेकर 'कालिदास का व्या

सौंदर्य' तथा प्रेमचन्द्र, गोर्की, यशपाल के कथा लेखन के समन्वित प्रतिमानों की चर्चा की है। मुक्तिबोध ने व्यक्तित्वांतरण-डिक्लास होने, कला के तीन क्षण, सौन्दर्य प्रतीति और कला अनुभव के साथ-साथ आलोचना कर्म में अन्तर्विद्यावर्ती अनशासन, (इण्टरडिसिप्लीनरी एप्रोच) नये साहित्य का 'सौन्दर्यशास्त्र' व 'समाजशास्त्रीय' सन्दर्भो की चर्चा 'विषयवस्तु और शिल्प' तथा विशेषकर फैण्टेसी शिल्प आदि के समवेत संदर्भो में की है।

रमेशकुन्तल मेघ ने 'अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा', 'साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक' और अन्य कृतियों के माध्यम से मार्क्सवादी आलोचना, समाजशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र को विभिन्न स्पत प्रतिमानों में देखने की पेशकश की है, जिसमें 'हमारे युग के नायक', राजनीति, शिल्प-विवेचन आदि भी शामिल हैं। नामवर सिंह ने प्रगतिशील आलोचना, समाजशास्त्रीय आलोचना और नयी समीक्षा के प्रतिमानों का प्रायोगिक स्वरूप कृति काव्यभाषा, तणाव और विडम्बना, विसंगतिबोध, युगबोध, काव्य - आन्दोलन और रचनाकार विशेष के सन्दर्भ में बडी कुशलता से रचा है। शिवकुमार मिश्र द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की सरणि पर यथार्थवाद के प्रतिमानों का निर्वाह, कथा-काव्य के सन्दर्भ में अवसरानुकूल कर लेते है। मैनेजर पाण्डेय ने आलोचना के समाजशास्त्रीय पक्ष को, विशेषकर मध्ययुगीन काव्य और उपन्यास सृजन-विश्लेषण में पुक्ता किया है। पर खेद की बात है कि बनारस - इलाहाबाद - दिल्ली क्षेत्र से हटकर... इतर प्रान्त - क्षेत्र में कार्य करनेवाले प्रखर आलोचकों की नोटिस कम ली जाती है। उदाहरणतः विश्वम्भर नाथ उपाध्याय की 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आलोक में भारतीय काव्यशास्त्र का अध्यन' कृति का तथा 'समकालीन कविता की बूमिका' आदि का न तो सम्यक मूल्यांकन हुआ है और न ही मुक्तिबध के आलोचना कर्म और कला - मूल्यों का।

अगर 'काव्यशास्त्र' और 'आलोचनाशास्त्र' एक ही सिक्के के दो पहलू है तो फिल्मों का सौन्दर्यशास्त्र' और भारतीय साहित्य का दार्शनिक पक्ष कमोबेश रूप से हमारे विश्वषण और 'विमर्श' का सीमान्त दर्शन क्यों हैं?

हमारे हिन्दी क्षेत्र में ही क्या... सम्पूर्ण भारतीय परिदृश्य में हम क्यों नहीं ऐसे आलोचक के दर्शन कर पाते हैं जो काव्यशास्त्र, संगीत, नृत्य, चित्रकला, स्थापत्य और फिल्मांकन विधि का मर्मज्ञ विद्वान हो। क्योंकि काव्यशास्त्र, चित्रकला, संगीत कला, नृत्य कला और स्थापत्य कला अपने समन्वित रूप में, सौन्दर्य शास्त्रीय अभिशंसा के, रसात्मकबोध, साधारणीकरण, औदात्य बौध एवं मानवीय चेतना की 'समग्रता' टोटलिटी' के आधार हैं साथ ही वर्तमान युग की अभिशंसा के अनुकूल मीडिया और फिल्म के यथार्थबोध व सौंदर्यबोध की चर्चा अवश्यम्भावी है।

यह एक दीगर बात है कि नामवर सिंह काव्यशास्त्र के सहवर्ती रूप में संगीत - शैली पर बात कर लेते हैं। रमेश कुन्तल मेघ सौन्दर्यशास्त्र के अनुषंग स्थापत्य - कौशल की चर्चा कर लेते हैं। आशोक वाजपेयी नृत्य और चित्रकला के अनुषंगों की वेश्वस्त एथेन्टिक जानकारी रखते है काव्यशास्त्र के बरक्स संगीत विद्या पर भी

उन्हें पर्याप्त रूचि व पकड है। कन्नड लेखक गिरीश र्नाड अगर साहित्य सृजन, फिल्मांकन और नाट्य शैली के अदभुत अभियन्ता है और तेलुगु रचनाकार शेषेन्द्र शर्मा 'भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के साथ-साथ संगीत, नृत्य और स्थापत्य की गहरी जानकारी रखते हैं। पर किससे पूछा जाये? किससे जाना जाये? कि हमारी शिक्षा पद्धति इतने - इतने आलोचकों पण्डों - पुरोहितों की अक्षोहिणी सेना के होते हुए 'विमर्श' के मशालची, तोपची और मिसाईल विशेषज्ञों के होते हुए हमारी आलोचना पद्धती इतनी 'एकांगी' निरीह, अनुपयोगी और अक्षम क्यों है? जो यू. जी. सी. की नेट-सेट परीक्षा या पी. एच. डी. उपाधि की प्राप्ति के बाद मल्लिकार्जुन मंसूर पर न तो बात कर सकते है न बिथोविन की सिम्फनी पर।

पिकासो, वानगाग के समकक्ष हुसैन या सूजा की बात वे क्या घाँस खाकर करेंगे। जबकि उनके प्रोफेसर-उस्ताद भी अपनी जगह कहीं - कहीं बोदे और कोरे हैं। कबीर ने सच ही कहा है - ''जाका गुरू अँधला, चेला खरा निरँध / अंधे को अंधा ठेल्या, दोनो कूप पडंत।'' क्यों नही हमारे सत्ता प्रतिष्ठान अकादमी के प्राँगण और विश्वविद्यालय के सेमिनार... 'गोदान' उपन्यास की रचना-प्रक्रिया अथवा उसके पुनर्पाठ, मूल्यांकन के साथ-साथ उसके 'फिलांकन', पटकथा, लेखन और पाठक - दर्शन पर प्रभाव का विश्लेषण 'समवेत प्रतिमानों' के आधार पर क्यों नहीं कर पाते है?

अगर इक्कीसवी शताब्दी टेक्नोलोजी मीडिया के विस्फोट और फिल्मांकन के समाज शास्त्रीय सौन्दर्यबोधी विश्लेषण की है तो यह हमारे सृजनात्मक रचनाकर्म आलोचना कर्म व कौशल का एक्सटेंशन है। 'उमरावजान', 'अदा', 'गोदान,' 'चित्रलेखा', 'दिव्या', 'झूठासच', 'आग का दरिया,' 'चाक' अथवा 'तिरिया चरित', 'कफन' के कथ्य और शिल्प के साथ उनके पटकथा लेखन, निर्देशन, फिल्मांकन की चर्चा हमारे 'प्रतिमानों की पुरोहिती' का अंग होनी चाहिए साथ ही 'नये विमर्श' का अंग भी। केवल 'चाणक्य' सीरियल या 'काशी का अस्सी का हवाला' पर्याप्त नही होगा और न ही 'भारत एक खोज' का प्रयास। जो सेल्युलाईड और टी. बी के पर्दे पर निदेशक का कौशल रहा है।

'अधेर नगरी' या 'अंधा युग' के पुनर्पाठ, पुनर्मूल्यांकन संबंधी मीमांसा केवल टेक्सट के आधार पर ही नहीं होनी चाहिए बल्कि विभिन्न निर्देशकों की प्रस्तुति, विभिन्न अभिनेता-अभिनेत्रियों के अभिनय प्रदर्शन कौशल, रंग, शेड, साउण्ड - ट्रेक, कोरियोग्राफी तथा पाठकीय और दर्शकीय अभिशंसा के मूल्यांकन पर भी होनी चाहिए... नये 'पअतिमान' और 'विमर्श' के तहत।

'कफन' कहानी के पुनर्पाठ, समाजशास्त्रीय और मनोविश्लेषण वादी, प्रगतिशील अथवा अस्तित्ववादी प्रतिमानों के आधार पर करना ही काफी नहीं है बल्कि यही कहानी 'कफन' जब तेलगु भाषा में गौतम घोष के द्वारा 'वक ऊरी' कथा (एक गाँव की कहानी) शीर्षक से जब सेल्यूलाईड के पर्दे पर अंकित होती है या इसका नाट्य रूपांतरण होता है मंच पर!... अभिनेता और दर्शक के बीच, आलोचक और छात्र के बीच, विमर्श, सम्प्रेषण, प्रभाव और कलात्मक सौद्देश्यता के प्रतिमान क्या-क्या होंगे? या कौन-कौन से होंगे। यहाँ हमें कथा

साहित्य, नाट्य साहित्य और फिल्मों के मीमांसापरक प्रतिमानों का समवेत रूप अपनाना होगा। आखिरकार वे कौन से 'प्रतिमान' और 'विमर्श' होगे? यही प्रयास राही मासूम रजा के 'आधागाँव' और 'मन्नु भण्डारी के 'महाभोज' उपन्यास व नाट्य रूपांतरण के सन्दर्भ में, और... फिल्मांकन के प्रयास में होना चाहिए।

वर्तमान 'आलोचना' और 'विमर्श' का खतरनाक मँजर यह है कि हमारे दलित विमर्श के नये मौलवी - मुर्शद, पंडित-पाण्डे, शुक्ला-त्रिपाठी न तो नीग्रो पोएट्री के विद्रोह को जानते हैं और न ही 'ब्लैकपेंथर' के आन्दोलन को! और न ही यह जानते है कि तेलुगु भाषा-काव्य में कभी जाषुआ ने 'गब्बीलम' (चमगादड) शीर्षक से, आज से लगभग पचास-साठ वर्ष पूर्व दलितों की दारूण गाथा प्रबन्धकाव्य के स्तर पर रची है। दिल्लीधाम वासी श्री श्री बजरंग बिहारी तिवारी 'दलित विमर्श' के दावेदार बनते हैं जो न तो हिन्दी-तेलुगू मराठी भाषा की दलित रचनाओं के साथ न्याय करतें हैं और न ही अन्य भारतीय भाषा साहित्य में विन्यस्त दलित अन्तर्गाथा का! जब कि बाबा रामविलास शर्मा कह गये है साठ वर्ष पूर्व... हमें किसी एक भाषा-साहित्य, आन्दोलन या प्रवृत्ति का विकास दूसरी भाषा-साहित्य के 'सहवर्ती प्रयासों' में देखना चाहिए। चाहे वह आन्दोलनगत हो या विचारधारा परक, शिल्पगत हो या प्रवृत्ति परक।

'स्त्री विमर्श' विमर्श के दावेदार, ...नये-पुराने जटायु, जामवंत, सुग्रीव और बाली रूपी आलोचक, विमर्श के सदाबहार अकादमी धर्मी साहित्य-संजीवनी के मकरध्वज, सृजन पीठ के व्यास रूपी व्याघ्र, अपनी तृष्णा और मरीचिका में शायद ही उल्लेख करते हैं कि ईसा की आठवी शताब्दी में कोई दामोदर पंडित था। जिसने वेश्यावृति, वेश्या-व्यवसाय, नारी-दुर्दशा पर संस्कृत 'कुट्टनीमतम' नामक ग्रंथ लिखा है। 'कुट्टनीमतम' के लेखक काश्मीर नरेश जयपीड के प्रधान आमात्य थे। उन्होंने इस ग्रंथ में पुरूष प्रधान समाज के अधिकांश अभियन्ता... राजाओं, सामन्तों की लम्पटता, विलासिता और कुट्टनियों के प्रभाव की विवेचना की है। 1059 आर्याओं के इस काव्य में कवि ने आत्यन्त रोचक शैली में तत्कालीन समाज का नग्न चित्र खींचा है। 'विकराला' नामक कुट्टनी का सजीव चित्रण इस चित्रण इस ग्रंथ की विशेषता है। विकराला 'मालती' की कामीजनों से धन ऐंठने और पुरूषों की मनोवृत्ति जानने की शिक्षा इस ढंग से देती है कि यह काव्य 'कामशास्त्र' का एक शास्त्रीय ग्रंथ बन गया है। पाटलीपुत्र और वाराणसी की कामप्रवृत्ति का चित्रण करने से इस ग्रंथ का सांस्कृतिक महत्व भी है। (नगेन्द्र : भारतीय साहित्य कोश पृ. 265)

हमारी हिन्दी आलोचना के दिल्ली-गिरिधर, हरिद्वार धामी, बनारस - गया - प्रयाग क्षेत्र के अधिवासी मणिका गुप्ता, प्रभा खेतान और चित्रा मुद्गल की तर्जे बयाँ पर 'सीमोन द बुआ के 'सेकेण्ड सेक्स' की कसमें खायेंगे, कैट मिलेट, जर्मन गीयर के शाब्दिक सहवास की बातें करेंगे, ... पर गुजराती भाषा में लिखे गये क्लासिक स्तर के, ... नारी-दुर्दशा और स्त्री विमर्श के रोम, जापान, एसिया, आफ्रीका के प्रसंगों को 'अप्सरा' (रमणलाल वसन्तलाल देसाई) भला जानने या पढने की जहमत क्यों उठायेंगे? जो आज के सत्तर - अस्सी वर्ष पहले प्रकाशित हुआ है। अन्य भारतीय भाषाओं में जिसकी समानान्तर कृति दुर्लभ है। 'विमर्श'

का 'पाखण्ड' और नौटंकी-यात्रा का त्यात्मक परिदृश्य हमें हतप्रभ कर देता है। क्योंकि पेपर प्रेजेणेटेशन, सेमिनार, गोष्ठियों में पिष्ट - पेषण, कटिंग - सटिंग और फीटिंग से काम ही नहीं चलता है बल्कि वाहवाही भी लूटी जाती है - टी. ए और डी. ए के साथ । यह धर्म धुरन्धर आलोचकोव परम पूज्य प्रोफेसरों का शैक्षणिक साहित्यिक व सांस्कृतिक कर्म-काण्ड है।

'स्त्री विमर्श' की चर्चा करनेवाले हमारे नये-नये बाँगरू साथी प्रभा खेतान, रमणिका गुप्ता, मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, चित्रा मुद्गल, अलका सरावगी आदि के उपन्यासों की बात करेंगे। बहुत हुआ तो शिवमूर्ति की 'तिरिया चरितर', 'कसाईबाडा' अथवा रांगेय राघव की 'गदल' आदि की चर्चा कर लेंगे। पर ये लोग 'आलोचनों के प्रतिमानों' और 'विमर्श' की बाजीगरी में फिल्म के समाजशास्त्र अथवा सौन्दर्यशास्त्र की चर्चा क्यों नहीं कर पाते हैं? बहुत हुआ तो 'कला फिल्म' और 'व्यावसायिक फिल्म' पर मास मीडिया के वेपर्स बात कर ली जाती है, स्किप्ट - राईटिंग' और 'कोरियोग्राफी' की चर्चा में अधिकांश आचार्य प्रवर कोरे साबित हो जायेंगे। 'उमराव जान 'अदा', 'गर्म हवा', 'दो बीघा जमीन', 'स्वंयसिद्धा', 'मुखामुखम,' 'रजनी गंधा', 'पाकीजा', 'दामुल', 'कामसूत्र', 'बेडिंट क्वीन' और 'उत्सव' आदि फिल्मों पर क्या केवल विनोद तिवारी, विनोद भारद्वाज, विष्णु खरे, रोहिताश्व या जवरीमल्ल पारिख आदि ही चर्चा करेंगे? भारतीय जनजीवन के वर्ग-विभक्त समाज में, सामन्ती-पूँजीवादी व्यवस्था और साम्राज्यवादी-वैश्वीकरण की प्रक्रिया में नारी के उत्पीडन, शोषण के प्रतिकार में अधिकांश आलोचक काव्यशास्त्र, फिल्म के समाजशास्त्र और सौन्दर्यबोधी प्रतिमान के साथ-साथ 'विजन' और 'प्रभाव' की चर्चा क्यों नहीं कर पाते हैं?

स्त्री-विमर्श के हमारे नये-पुराने पुरोधा अमेरिका स्थित भारतीय मूल की फिल्म निर्देशिका मीरा नायक की फिल्म 'कामसूत्र' के कथ्य, पात्र, प्रस्तुति, कोरियोग्राफी और फिल्मांकन के 'विमर्श' सन्दर्भ' में खामोश क्यों रहते हैं? यह तय है कि वात्सायन प्रणीत 'कामसूत्र' संसार की ऐसी महानतम कृतियों में से है जिसमें स्त्री-पुरूष और प्रेमियों के बीच अश्लील कुछ भी नहीं था। पर मीरा नायर ने 'कामसूत्र' की पटकथा हेलेना क्रील के साथ मिलकर इसे केवल सेलेबल प्रोडक्ट या कामाडिटी बनाना चाहा है। ... राजस्थान की पृष्ठभूमि में प्रेमशास्त्र सिखलाने वाली रसदेवी ...स्त्रियों से पुरूषों की भूमिका करवाती है। ... जायज-नाजायज सम्बन्धों के अंकन के लिए इसमें खजुराहो की मूर्तियों का इस्तेमाल भी किया गया है। बकौल विष्णु खरे के मीरा नायक की 'कामसूत्र' फिल्म स्त्री-शरीर, नारी-पुरूष यौन सम्बन्द, मध्यकालीन भारत, राजे-महाराजे, महल, मन्दिर, हाथी व राजस्थान के दृश्य या रूपाकार बेचती है। इसमें जो गम्भीर बातें कही गयी है वे सिर्फ धोखा देने के लिए है। क्योंकि मीरा नायर का एक मात्र उद्देश्य दर्शकों को उत्तेजित करना है। उन्होंने यह फिल्म शुद्ध उन विदेशियों के लिए बनाई है जो भारत को सिर्फ 'कामसूत्र' जैसे ग्रंथों और सामन्ती परम्पराओं का देश मानते हैं। इसे आप एक बाजारू फिल्म मान सकते हैं। (सिनेमा पढने के तरीके पृ. 59) यह सार्थक आलोचना या विमर्श है या कुत्सित टिप्पणी?

भारतवर्ष में 'कामसूत्र' के रचना काल के समानान्तर शूद्रक के 'मृच्छकटिकम' नाटक की सृजना हुयी थी। गिरीश कर्नाड के निर्देशन में इस पर 'उत्सव' फिल्म बनी। कतिपय प्रसंग 'दशकुमार चरित' के भी इसमें लिये गये हैं। गणिका वसंतसेना और ब्राह्मण कुमार चारूदत्त की प्रेमकथा का इसमे निरूपण है। गिरीश कर्नाड ने इसके फिल्मांकन में 'व्यावसायिकता और कला' का सम्मिश्रण करना चाहा। बाक्स आफिस पर सफल न होकर भी यह हमारे फिल्मों के समाजशास्त्र व सौन्दर्यशास्त्र में मील का पत्थर है। नायक के रूप में शेखर सुमन भले ही कमजोर पात्र रहे हैं पर रेखा के अविस्मरणीय और 'बेला महके रे महके आधी रात के' गीत-संगीत को संवेदनशील पाठक भुला नही पायेंगे! पर हमारे 'आलोचना' और 'विमर्श' के परिदृश्य में 'कलाकृति' और 'फिल्म' के समन्वित प्रतिमान कब निर्धारित हो पायेंगे।

'प्रतिमानों की पुरोहिती' और 'विमर्श' की सेमिनार नौटंकी में, शाश्वत आस्था और विश्वास की कर्मकाण्ड-शैली में जुटे नर-पुंगर जब किसी रचनाकार पर प्रवचन देंगे, पूर्ण आत्मविश्वास के साथ इस शब्दावली में कि तुलसी या सूरदास के बराबर विश्व में कोई समतुल्य या समान धर्मा रचनाकार नहीं है। जबकि उन्हें स्वयं चार-पाँच बारतीय भाषाओं के क्लासिक साहित्य की न तो कोई जानाकीर होती है और न ही विश्व साहित्य की क्लासिक परम्परा की कोई समझ होती है। अतः 'पंडित वही जो गल बजावा...' वाली वात होती है।

अज्ञान और पाखण्ड, आस्था और अकादमीक सुस्ती व स्तुति की हद यह है कि अज्ञेय की जन्म शताब्दी पर ... उनके लेखन कर्म की मीमांसा में शायद ही कोई नर शार्दूल यह जिक करेगा कि भारतभूषण अग्रवाल ने कभी 'हिन्दी उपन्यासों पर पाश्चात्य प्रभाव' नामक शोध ग्रंथ में अज्ञेय कृत 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास पर डी. एच. लारेन्स, रोमा रोलाँ, तुर्गनेव आदि न जाने कितने पाश्चात्य रचनाकारों का प्रभाव अभिज्ञापित किया है।' (पृ. 213) पर यह सब कौन सोचेगा कि वह अज्ञेय की शिल्प साधन में एकाकार तत्व हो गया है। अज्ञेय कृत 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास की भूमिका में स्वरोक्ति रही है कि... एक रात के 'विजन' को शब्द बद्ध करने में नौ-दस वर्ष का समय लगाया है। पाठक वर्ग या आलोचक वर्ग समाजशास्त्रीय सन्दर्भो में अथवा तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृति में यह नहीं सोच पाता है कि अज्ञेय क्यों बार-बार इलियट द्वारा प्रचारित भोक्ता और सृष्टा के पार्थक्य वाले सिद्धांत को अपने अनुकूल पाते रहे हैं? वे दरअसल मनोविश्लेषण और अस्तित्ववाद की ग्रंथियों से आजीवन जूझते रहे हैं, सृष्टि से जूझने, विद्रोही होने का अभिनय करके आपसे जूझना? यहाँ भी वे 'कितनी नावों में कितनी बार' की तरह 'कितने मुखौटे कितनी बार' बदलते रहें रहे हैं।

भारतभूषण अग्रवाल ने डी. यू. जे. एन.. यू या बी. एच. यू. के शलाका पुरूषों की तरह 'प्रतिमानों की पुरोहिती' नहीं रची है और न ही विमर्श की नौटंकी का रंगारंग प्रायोजित कार्यक्रम सागर या इलाहाबादी आचार्यों की परम्परा में रचा है। न ही उन्होंने 'अर्थ की लय' या 'लय का अर्थ' अथवा 'भोगा हुआ यथार्थ' के मुहावरे उछाले है और न ही 'अनुभूति की प्रामाणिकता' के सिक्के बटोरे है बल्कि वैचारिक व तर्किक अवधारणा रखी

– 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास में... अज्ञेय काल स्वानुभूत सत्य और शेखर का अन्तरंग वृत, ...तदभव रूप में कैसे जान लिया जा सकता है? **XXX** वस्तुतः स्वानुभूति की अभिव्यक्ति, स्वानुभूति का विश्लेषण, स्वानुभूति का प्रक्षेपण अज्ञेय के सृजन कार्य का एकमात्र रूप है, क्योंकि उसका उद्देश्य लोकमंगल, वाद-प्रचार, क्रांति कर्म अथवा यश प्राप्ति न होकर, इलियट की परम्परा में व्यक्तिगत से विमोचन है, अपनी अनुभूति द्वारा उपलब्ध विकारों से मुक्ति ग्रहण करना है, ताकि मूल, आदिम और निर्विकार व्यक्तिगत (अस्तित्वबोध) का साक्षात्कार हो सके । (वही पृ. 206)

कभी मनोहर श्याम जोशी ने अज्ञेय का रवाका खींचते हुए कहा है – 'अज्ञेय आज प्राचीनों में आधुनिक हैं, और आधुनिकों में प्राचीन, यानी हर कही अजनबी । (धर्मयुग – 8 मार्च 1964 पृ. 50) 'समाजशास्त्रीय, सौन्दर्यशास्त्रीय, मनोविश्लेषणवादी और अस्तित्ववादी प्रतिमानों और विमर्शों में रस पर भी विचार होना चाहिए कि 'अज्ञेय के प्रमुख पात्र उन्हीं के आंशिक प्रतिरूप होने के कारण, उन्हींकी भाँति कलानुरागी और अधीत क्यों हैं? 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास में प्रोफेसर हीच ब्रिटिश मध्यवर्ग के अंग्रेज की तरह क्यों रूपायित हुए हैं? (भाग – 2 पृ. 102) रोजेटी की पंक्तियाँ शेखर के अन्तर्मन में क्यों गूँजती हैं? (भाग – 1 पृ. 130) **XXX** जो डाना को स्नान करते देख लेता है, वह अंधा होकर ही (क्यों) रहता है । (भाग – 2 पृ. 28) आखिरकार अज्ञेय की कृतियों के लिए हम 'अस्तित्ववाद' और मनोविश्लेषण' के समन्वित प्रतिमान क्यों तय नहीं कर पाते हैं?

कहना न होगा कि अज्ञेय विगत पचास – साठ वर्षो से अपने उपन्यास लेखन, कहानी, कविता, आलोचना, पत्रकारिता और यात्रा वर्णन से अप्रतिम और विश्व साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान के रूप में समादृत है। पर उनके 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास की व्याख्या किशोर मनोविज्ञान, होमोसेक्सुएललिटी, ईगो, क्षति-पूर्ति के मनोविश्लेषणवादी तथा अस्तित्ववादी मान-मूल्यों से, तुलनात्मक प्रविधि (पाश्चात्य उपन्यास और भारतीय उपन्यास) सन्दर्भ से होनी चाहिए, वह क्यों नहीं हो पायी है? भले ही 'प्रतिमानों की पुरोहिती' करनेवाले विद्यानिवास मिश्र, चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, रामकमल राय, गोपाल राय और भोलाभाई पटेल आदि-आदि लोगों की एक लम्बी कतारे है, जो 'विमर्श' की नौटंकी के महत्वपूर्ण किरदार भी रहे है। हालाँकि तुलनात्मक रूप से 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास के कथ्य और शिल्प के सन्दर्भ में भोलाभाई पटेल ने 'फादर्स एण्ड चिल्ड्रेन' (तुर्गनेव), ज्यों क्रिस्तोफ (रोमॉ रोला) रिमेंब्रन्स ऑफ पास्ट (मार्सेल प्रूस्त), पोट्रेट ऑफ द आर्टिस्ट एज ए यंग मेन, (जेम्स ज्वायस), सन्स एण्ड लवर्स (डी. एच. लोरेन्स) के कतिपय अंशों के प्रभाव व प्रतिबिम्ब का जिक्र किया है। पर हमारे अधिकांश आलोचक किसी कृति-विशेष का विश्लेषण विभिन्न विचारधाराओं के अनुस्यूत भावबोध, कथ्य और शिल्प प्रसंगों में अन्यन्य रचनाकारों के प्रभाव या विशिष्टता की चर्चा क्यों नहीं कर पाते हैं?

'कविता के नए प्रतिमानों' के पुरोधा नामवर सिंह पर कथाकार राजेन्द्र यादव यह आरोप क्यों लगा देते

है कि 'ये तो मूलतः कविता के आलोचक है, कथा, कहानी में यों ही टहलते चले आये हैं। XXX कविता के इस आलोचक का डंका कथा साहित्य में 'बोलता' है !! इधर ये उपन्यासों पर लगातार प्रवचन दे रहे हैं, लेकिन कथा साहित्य के उनकी तीस वर्षो की समस्त यात्रा निर्मल वर्मा के 'परिन्दे' से लेकर विनोद कुमार शुक्ल के 'दीवार में खिडकी रहती थी' तक ही सीमित है यानी आइसोलेटेड दुनियाँ से इन्सुलेटड दुनियाँ तक ! हिन्दी में कहें तो एकाकी जीवन से देश-काल निरपेक्ष काव्यालोक तक । काश ऐसी ही उदारता उन्होंने आनंदलोक 'नदी के द्वीप' को लेकर भी दिखाई होती। (हंस, फरवरी 1994 पृ. 7) सवाल यह है कि यह टिप्पणी अपने युग के एक समर्थ आलोचक पर व्यंग्यपरक विश्लेषण में केरीकेचर में हैं या सृजक व आलोचक के द्वैतभाव को लेकर?

नामवर सिंह और राजेन्द्र यादव की नूरा - कुश्ती को कौन सा सजग या पाठक नहीं जानता है। यह भगवती चरण वर्मा के रूपक में साहित्य आलोचना 'दो बाँके' हे प्रतिमान और विमर्श के खेल में। हमारे कतिपय आलोचक भी विशुद्ध निर्वैयक्तिक आलोचक चेतना के जीव नहीं है याने दूध के धोये हुए विमर्शकारी नहीं है। रामविलास शर्मा अपने ही मार्क्सवादी सहयात्री मुक्तिबोध पर शिजोफ्रेनिया का शिकार होने का आरोप लगा देते है हालाँकि सृजनात्मक स्तर पर मुक्तिबोध ने 'कला के तीन क्षण,' कला की रचना - प्रक्रिया, विषयवस्तु और रूप, फैण्टसी, सौन्दर्यानुभूति के साथ' 'अर्न्तविद्यावती अनुशासन' की सार्थक पहल की है अपने मार्क्सवादी दर्शन, विचारधारा और प्रतिबद्धता की जमीन पर अप्रतिहत रह कर। वस्तुतः वे प्रसाद से अधिक बौद्धिक और निराला से अधिक आत्मसंघर्षी रहे हैं।

अकारण नही है कि रामविलास शर्मा भारतीय दर्शन, विचारधारा के अन्तर्विरोधों, सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष को द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से विश्लेषित करते हैं। ऋग्वेद व एशियायी साहित्य, इतिहास - दर्शन, साहित्यिक परम्परा का सार्थक मूल्यांकन, कृति और कृतिकार निराला, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमचन्द के समाजशास्त्रीय विश्लेषण के वे अकेले शाहकार रहे हैं। जिस प्रकार राहुल सांकृत्यायन और रामविलास शर्मा, भगवतशरण उपाध्याय और डी. डी. कौशाम्बी हमारी आलौचना प्रविधि के, वैश्विक विजन के पुराने पुरोधा रहे हैं। उसी प्रकार नामवर सिंह भारतीय काव्यशास्त्र का पुनर्विवेचन करनेवाले, पाश्चात्य काव्यशास्त्र की 'नयी समीक्षा' वाली प्रवृति अपनानेवाले समन्वित रूचि के आलोचक है। बौद्धिक परिष्कार और सहृदय की मीमांसा प्रवृत्ति को अपनानेवाले वे एक ऐसे आलोचक हैं जिन्हें एफ. आर. लीविस, लूसिए गोल्डमान, एन्तोनियो ग्राम्शी और जार्ज लूकाच की समन्वित प्रतिभा का प्रतिरूप और विमर्शकर्ता माना जा सकता है। जो काव्य सृजना और कथा - साहित्य में समानान्तर रूप से सक्रिय रहे हैं।

प्रसंगवश प्रतिमानों के सूत्रीकरण को नामवर सिंह एक खतरा मानते हैं, क्योंकि युगीन परिवेश, टेकनोलीजी व भास मीडिया के प्रभाव से 'प्रतिमानों' का निर्धारण बदलते रहता है। वैसे भी सिद्ध-आचार्य लोग काव्य, उपन्यास, फिल्म और चित्रकला के प्रतिमानों में न कोई घालमेल चाहते हैं और न उनका कोई समन्वित - समावेशी 'प्रारूप'

विकसित करना चाहते हैं। एक ही कविता या कृति को लेकर वे 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' की प्रवृत्ति को पोख्ता करते रहते हैं। मुक्तिबोध कृत 'अंधेरे में...' कविता का विवेचन नामवर सिंह मार्क्सवादी दृष्टि और अस्तित्ववादी प्रतिमान शैली से 'अस्मिता की खोज' (सर्च आफ आइडेण्टी) शीर्षक से करते हैं, वहाँ विद्यानिवास मिश्र उस कविता में भाववादी - आदर्शवादी आस्था से 'नर-नारायण की पीडा' का दर्शन करते हैं अर्थात हर आलोचक अपनी वर्गीय प्रवृत्ति और अभिरूचि, विचारधारा और दार्शनिक विजन से कृति की आलोचना करता है। वह 'कृति' की राह, टेक्स्ट को कम महत्व देकर 'अपनी समझ, संवेदना और वैचारिक भावबोध को ज्यादा महत्व देता है। जबकि 'अंधेरे में...' नामक कविता 'अस्मिता की खोज' न होकर 'अस्मिता का विलयन' (सबमिशन आफ आइडेन्टी) है, रक्तालोक स्नात पुरूष का पूर्ण रूप, जो जनयूथ में खो गया है।

प्रतिमानों के नये - पुराने पुरोहित, मौलवी, मुर्शद, पादरी और बाँगरू-रँगरूट यह जानते हैं कि अज्ञेय और मुक्तिबोध जहाँ आई. ए. रिचर्डस की 'मूल्य और सम्प्रेषण' प्रणाली से प्रभावित होकर टी. एस. इलियट की निर्वेयक्तिकता को समान रूप से महत्व देते हैं वहाँ नामवर सिंह पाठ - प्रक्रिया, मूल्य चेतना, कृति - विश्लेषण, सम्प्रेषण, अर्थ मीमांसा और यथार्थ के कलात्मक प्रतिमानों को भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की श्रेष्ठ थरोहर मानते हैं। वे किसी भी कृति का मूल्यांकन कृतिकार के ऐतिहासिक परिवेश और उसके जीवन सन्दर्भो में करना चाहते हैं, साथ ही वे रचनाकार के युगीन परिवेश, ऐतिहासिक दायित्व, युगबोध एवं रचना - शिल्प के वैशिष्ट्य को भी समान महत्व देते हैं। उन्हें मार्क्सवादी समीक्षा पद्धति और 'नयी समीक्षा के प्रतिमानों को संयोजित करने का, प्रकारान्तर से 'रूपवादी समीक्षक' होने का आरोप झेलना पडा है।

रामविलास शर्मा की परम्परा में नामवर सिंह ने 'कविता और कथा-साहित्य' के विश्लेषण में प्रगतिशील आलोचना के मापदण्ड, समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति तथा भाषाशैली के समन्वित प्रतिमानों का व्यावहारिक प्रारूप (प्रेक्टिकल क्रिटिसिज्म) रचा है। पहली बार उन्होंने 'कविता के नये प्रतिमान' में विसंगति, विडम्बना, अनुभूति और तनाव, नाटकीयता, काव्यभाषा, ईमानदारी, परिवेश, प्रमाणिकता और मूल्य' जैसे आलोचनात्मक पदों पर गहराई से विचार किया है। जिसकी सार्थक पहल पहले मुक्तिबोध ने 'सौन्दर्यानुभूति, वस्तु और रूप, कला की सांस्कृतिक प्रक्रिया के साथ-साथ रची थी। वैसे मुक्तिबोध और नामवर सिंह दोनों ने ही वस्तुतत्व और शिल्प-तत्व के सही आंकलन के लिए सकारात्मक संकेत दिए हैं। बकौल नामवर सिंह के अनुभूति की जटिलता' भी संवादी और विसंवादी द्वन्द्व पर आधारित है। रचनाकारों के परिवेश, वर्ग-दृष्टि और विजन के अनुरूप 'अनुभूति और तनाव' में अन्तर होता है। उदाहरण हेतु वे अज्ञेय और मुक्तिबोध की तनाव की प्रवृति में अन्तर रेखांकित करते हैं कि 'अज्ञेय की दृष्टि में मानसिक तनाव मुख्य है, जिसमें जीवन की विविधता का बोध हमें विश्रृंखल करता है, इसके विपरीत मुक्तिबोध का तनाव दोहरा है, एक ओर अपने परिवेश के साथ और दूसरी ओर स्वंय अपने भीतर, लेकिन ये दोनों तनाव परस्पर सम्बन्धित है।' सुधी जन जानते हैं कि अज्ञेय का मानसिक तनाव 'असाध्य वीणा' और 'ओ निःसंग ममेतर' में दृष्टव्य हो सकता है और मुक्तबोध का परिवेशगत और अन्तर्बाह्य का तनाव 'बौद्धिक विजन' और प्रतिबद्धता के साथ 'ब्रह्मराक्षस', औरांग उटांग कविता में तथा''अंधेरे में' नामक रचना में परिलक्षित किया जा सकता है।

पर क्या हम किसी 'कृति' की विवेचना हेतु आलोचना के विभिन्न प्रतिमानों, विमर्श के नये साँचो के समन्वित रूप को अपनाना या 'अन्तर्विद्यावर्ती अनुशासन' का प्रयोग करना चाहते हैं? प्रसंग है कि एक बार 1994 के आसपास लखनऊ विश्वविद्यालय में 'राम की शक्ति पूजा' कविता पर सेमिनार सम्पन्न हुआ था। जिसमें विवेच्य कविता की 'संरचनात्मक समीक्षा' हमारे विद्यानिवास मिश्र ने की, रीति और शैली को आधार बनाकर । रामूर्ति त्रिपाठी ने भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिमानों के आधार पर 'राम की शक्ति पूजा' पर विमर्श रचा। आनंद प्रकाश दीक्षित ने उसकी 'रसशास्त्रीय विवेचना की। बच्चन सिंह ने 'रूपवादी' समीक्षा का प्रारूप अपनाया। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'काव्य भाषा' की कोसोटि पर उंसे कसा की! सत्यदेव मिश्र ने 'नयी समीक्षा' पद्धति के अनुप्रयोग में उसे देखने की पेशकश रची। विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ने मार्क्सवादी आलोचना पद्धति से 'राम की शक्ति पूजा' का उद्धार किया तो शिवकुमार मिश्र उस कविता का समाजशास्त्रीय पक्ष उजागर किया। रमेश कुन्तल मेघ ने निराला की इस कृति का विवेचन मिथकीय आयामों में किया तो विष्णुकान्त शास्त्री ने तुलनात्मक अध्ययन की प्रविधि से 'कृतिवास रामायण' और 'राम की शक्ति पूजा' की पुनर्विवेचना की। संयोजक सूर्य प्रसाद दीक्षित ने समन्वित – समेकित विश्लेषण की वकालत करते हुए कहा कि आलोचना या विमर्श में कोई एक पद्धति अंतिम नहीं होती।

जब किसी एक कृति की विवेचना विभिन्न आलोचना पद्धति के प्रतिमानों और विमर्श से की जाती है तो यह तय है कि इसमें यजमान की 'मांग' और 'अपेक्षा' और आमंत्रित विद्वान की पुरोहिती मुख्य होगी अथवा किसी सही एप्रोच व अन्तर्विद्यावर्ती अनुशासन की भावना सक्रिय हो सकती है। युग बदलता है, सन्दर्भ बदलते है, तो प्रतिमान और विमर्श के आयाम भी बदलने चाहिए जो हमारे इक्कीसवीं शताब्दी की अभिनव माँग है।

निराला कृत 'राम की शक्ति पूजा' हो अथवा शमशेर कृत 'अमन का राग', सौमित्र मोहन की 'लुकमान अली' कविता हो अथवा राज कमल चौधरी की 'मुक्तिप्रसंग', धूमिल की 'पटकथा' हो अथवा मुक्तिबोध की 'अंधेर में...' इसमें संवेदनशील पाठक, रचनाकार की मनःस्थिति, विजन और कलावस्तु के अभिप्रेय अर्थ को आत्मसात कर लेता है तो काल–समय और स्पेस के अंतराल तिरोहित हो जाता हैं। रचनाकार का दर्द और दर्प, पात्र का अन्तःसंघर्ष जब सहृदय पाठक वृन्द का 'आत्मीय कथ्य' या 'सहानुभूति सम्प्रेषण' का बायस बन जाता है तो कृति सफल है और कृतिकार भी।

'प्रतिमान' और 'विमर्श' किसी नीटंकी के तयशुदा प्रारूप नहीं होते हैं। वे युग की अपेक्षा के अनुकूल सांस्कृतिक, साहित्यिक 'पद' (term) होते हैं, जिनकी तर्क–संगत विवेचना जरूरी है। 'कृति की स्वायत्तता' के साथ–साथ आलोचक की अपनी अभिरूचि' व 'वर्गीय प्रवृत्ति' सम्बन्धी स्वायतता भी महत्वपूर्ण होती है। क्योंकि आलोचना की भाषा शून्य में निर्मित नहीं होती, वह पहले से ही विविध सांस्कृतिक परतों से छनती हुई आती है और उनपर उन स्तरों की छाप भी होती है। अंग्रेजी – अमेरिकी आलोचनात्मक पद भी गैर साहित्यिक अनुषंग हो सकते हैं। 'टेन्शन,' 'जेश्वर' और 'काम्पलेक्सिटी' आदि नई आलोचना के पारिभाषिक शब्द गैर साहित्यिक प्रयोजनों की सिद्धी करते रहते हैं। 'आलोचना की स्वायत्ता' नामक लेख में नामवर सिंह का कथन है कि 'विडम्बन' (आइरनी)

बहुलार्थकता (एम्बिग्युटी) जैसे शब्द कोरे काव्य वैशिष्ट्य बोधक न थे, शीतयुग्ध (कोल्ड वार) से ग्रस्त अमेरिकी समाज में इन शब्दों ने राजनीतिक भूमिका भी निभायी थी।" (पृ. 36) आज स्वयं अमेरिकी आलोचना में यह बात खुलकर कही जा रही है।

भारतीय आलोचना शास्त्र में हमें साहित्यशास्त्र, समाजशास्त्र, तुलनात्मक अध्ययन, सौन्दर्यशास्त्र और फिल्मांकन की प्रविधियों को कहीं न कही प्रतिमानों और विमर्श के सूत्रीकरण, पेटर्न और साँचो में आँकना होगा। हमारी यह बहस अधूरी है पर कयास अधूरे नहीं है। साहित्यिक कृति यों आनंद मठ, गोरा, गोदान, उमराव जान 'अदा', तमस, आदि पर बनी फिल्मे व सीरियल समाजशास्त्रीय नजरिये से हमारे सांस्कृतिक उपक्रम है। भले ही उनमें व्यावसायिकता और कला जगत के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध सक्रिय रहे हैं। परम्परागत और दूसरे आलोचनात्मक विमर्शो से यह नया समाजशास्त्रीय और सौन्दर्यबोधी आधार इसलिए भिन्न है कि यह साहित्य या कलाकृति को महज आस्वाद, उपभोग या आनन्द (वह चाहे कितनी ही उच्च श्रेणी का क्यों न हो) की वस्तु न मानकर उसे एक सामाजिक और सांस्कृतिक कर्म मानता है। उपन्यास लेखन, काव्य-सृजन हो या फिल्मांकन की प्रविधि, निर्देशक की अभिरूचि अथवा पाठक-दर्शक वर्ग की वर्गाभिरूचि व अभिशंसा, वे सब हमारे सामाजिक जीवन के बृहत्तर परिप्रेक्ष्य हैं।

भारत वर्ष के वर्ग विभक्त समाज में, जहाँ जाति व्यवस्था (सबाल्टर्न वर्ग, आदिवासी जन जीवन) व शहरी जीवन का संक्रांति बोध... अछूत कन्या, दामुल, पार, मृगया, धारावी, रजनीगन्धा, माँभूमि व मुखामुखम फिल्म आदि में अभिव्यक्त होते हैं। सामन्ती जन जीवन के चित्र 'उत्सव,' कामसूत्र', 'पाकीजा', और 'देवदास' आदि फिल्म में रूपायित होते हैं। ... वे सारे सन्दर्भ लेखन, प्रकाशन, विवेचन और फिल्मांकन के मुद्दे साहित्य और कला के वर्गीय स्तरों की छानबीन करते हैं। यह सच है कि साहित्यिक रचना अपने आप में एक आत्मिक प्रयास है, पर वह यह भी स्थापना देता है कि उसके अन्तर्गत जिन सांस्कृतिक मूल्यों की स्थिति होती है, वे एक व्यक्ति की देन न होकर अपने युगबोध, समाज या वर्ग की देन होते हैं। यहाँ समय और स्थान की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए हम केवल तीन साहित्यिक रचनाओं पर आधारित फिल्मों की चर्चा करना चाहेंगे। एक 'तीसरी कसम', दो - 'देवदास' और तीसरी - 'उमराव जान अदा'।

वास्तव में 'तीसरी कसम' सेल्युलाईड के पर्दे पर लिखी गयी एक क्लासिक रचना है। जिसका साहित्यिक - सांस्कृतिक अध्ययन हमारे पाठ्यक्रम के अनुभव और फिल्मांकन की प्रविधि व प्रभाव के प्रतिमान और विमर्श के नये हाशिए व प्रसंग बुनता है। बासु भट्टाचार्यद्वारा निर्देशित तथा कवित शैलेन्द्र द्वारा निर्मित 'तीसरी कसम' की पटकथा और संवाद फणीश्वरनाथ रेणु ने ही लिखे थे। वकील अरूण कुमार मश्रि 'तीसरी कसम' को सेल्युलाईड के पर्दे पर लिखी गयी एक भावना प्रधान कविता कहा जाये तो कोई गलत बात न होगी।" (वसुधा अंक 81 पृ. 289) जिसमें निम्न वर्ग के राग, रंग और दुःख की गाथा अंकित हुयी है। पर इस वर्ग के जीवन में जो रस होता है, उसे अपूर्व विश्वसनीयता के साथ इन्द्रियबोध के गंध, वर्ण-स्पर्श, ध्वनि व रसात्मक बोध के प्रभावशाली ढंग से प्रदर्शित किया गया है।

रेणु के यहाँ क्लासिक और लोकतत्व का सम्मिश्रण हुआ है, ठीक - ठीक नागार्जुन के औदात्य और जीवन संघर्ष के सीमान्तभाव की तरह । 'तीसरी कसम' कहानी एक फिल्म के पात्र और किरदार के राग-रंग, अंतःसंघर्ष और कशिश से पाठकों-दर्शकों के मर्म को स्पर्श कर लेते है। राज कपूर और वहीदा रहमान ने जैसे सदियों से संतृप्त और विरही मन को पर्दे पर साकार करने के लिए जन्म लिया हो। हमारे प्रतिमान और विमर्श के रणबाँकुरे कैसे यह सेमिनार या संगोष्ठी में प्रतिपादित कर पायेंगे कि 'तीसरी कसम' फिल्म वस्तुतः जीवन के एक छोटे से टुकडे में निहित अंतर्विरोध, द्वन्द्व एवं संक्रांति को पकडने का ऐसा विलक्षण प्रयास करती है कि जिन्दगी की सार्थकता का प्रेम और प्रतिरोध, तृष्णा और परिवेश का कालजयी रूपक बन जाती है - अपने चाक्षुस सौन्दर्यबोध और गत्यात्मक चित्रण में।

हीरामन और हिराबाई का अंतःसंघर्ष, प्रेम की त्रासदी का स्वरूप पाठक-दर्शक का अन्तर्लोक बन जाता है। हीरामन अपने यूटोपिया - मानसलोक में हीराबाई को न पाकर 'विसंगतिपूर्ण' अवस्था में मायूस होता है, टूटे हुए अन्तर्मन से तीसरी कसम खात है। पर हिराबाई यथार्थ की 'विडम्बना' को जानती है और परिवेश की त्रासदी भी, कि वह उसके जीवन का सहयात्री या वह उसकी हमसफर अथवा सदा के लिए शरीके हयात नहीं बन सकती। क्या हम 'तीसरी कसम' कहानी और फिल्म को विसंगति, विडम्बना (नयी समीक्षा) यथार्थ का कलात्मक प्रतिबिम्बन (जार्ज लूकाच) वर्ग-भेद और सांस्कृतिक परिवेश की त्रासदी को... मूल्य चेतस भाव से, फिल्माकन की सौद्धेश्यता या पाठकीय - दर्शकीय सम्मोहन व प्रभाव (समाजशास्त्रीय आलोचना) के समन्वित प्रतिमान या विमर्श भाव से विश्लेषित नहीं कर सकते हैं?

शरतचन्द्र चट्टोपबाध्याय के उपन्यास 'देवदास' पर विभिन्न भारतीय भाषाओं में लगभग दस फिल्मे हिन्दी, बॉग्ला, तेलुगु, तामिल और असमिया भाषा आदि में बन चुकी हैं। शरतचन्द परम्परावादी मध्यवर्गीय बॉग्ला भद्रलोक के लिए किसी ब्राह्मण नायक का वेश्या के काठे पर जाकर शराब के नशे में दूब जाना आश्चर्य का नहीं बल्कि विद्रोह का प्रतीक था। शरत बाबू ने 'परम्परा और आधुनिकता' प्रेमभाव की प्रतीति के मनोविश्लेषणात्मक निषेध व क्षति-पूर्ति के इस कथानक हेतु पर्याप्त निनदा झेली। पर पतनशील सामन्ती मूल्यों और उपनिवेशवादी स्थिति का अंकन इस कथा व फिल्म की उपलब्धि रहा है।

'देवदास' फिल्म हिन्दी में तीन बार बनी है। 1935 में कुन्दनलाल सहगल आर. सी. बोराल के निर्देशन अपनी गायकी व अभिनय से इसके केन्द्र में थे। जमुना और राजकुमारी द्वारा अभिनित यह फिल्म संवेदनशील तवायफ के आत्म संघर्ष को, स्त्री-विमर्श के एक अचूते पक्ष को दर्शाती है। ऋत्विक घटनक ने कहा भी है कि 'देवदास' की कहानी दरअसल पारो की कहानी है। यह उस औरत के महान साहस की गाथा है जो हर हालत में अपनी जिम्मेदारी निभाने के लिए प्रतिबद्ध है। मायके, ससुराल, पति और प्रेमी के जिम्मेदारी का अन्तःसंघर्ष और ताप, अभिनय कौशल और दर्द की प्रतिच्छाया पारो को एक अमर और स्पृहणीय पात्र बना देती है। XXX रात के अंधेरे में आसन्न परिणिता पार्वती (पारो) स्वयं अपने विवाह का प्रस्ताव लेकर देवदास के पास जाती है और देवदास उसे आश्वस्त करते हुए उसके घर तक छोडने के लिए अपने घर से निकल जाता है । XXX पर पार्वती के शराब न पीने के आग्रह पर देवदास

का यह कहना 'क्या तुम आज रात मेरे साथ भाग सकती हो? – इसे नाटकीय आवेश और मनोविश्लेषणात्मक जटिलताओं की 'समग्रता' में ही जाना जा सकता है।

विमल राय ने 1955 में 'देवदास' फिल्म के लिए नरेन्द्र घोष से स्क्रिप्ट लिखवायी और राजेन्द्र सिंह बेदी से संवाद लिखवाये। बंगाल के ग्राम्यांचल की विश्वसनीयता के लिए सचिनदेव बर्मन को संगीत की जिम्मेदारी सौंपी और साहिर लुधयानवी को मार्मिक गीत लिखने की इस्सलाह दी। दिलीप कुमार, सुचित्रासेन, वैजयन्ती माला और मोतीलाल के साथ 'धर्मदास' के किरदार के लिए नजीर हुसे का चयन भी विमल राय की पारखी नजर का प्रमाण है। (राजेन्द्र शर्मा : हिन्दी सिनेमा का सौन्दर्यशास्त्र पृ. 51) दिलीप कुमार की 'देवदास' वाली अभिनय क्षमता के कायल कई हिन्दी, तेलुगु, मराठी, कोंकणी और कन्नड भाषी दर्शक मिल जायेंगे, जो पिछली पीढी का प्रतिनिधित्व करते हैं।

संजय लीला भंसाली वर्तमान दौर में, विमल राय की देवदास फिल्म के सत्तावन वर्ष बाद 'देवदास' को जो ग्लैमर, भव्यसैट और व्यावसायिक तामझाम शाहरूख खान और ऐश्वर्य राय की टीम के साथ रचते हैं और 'डोला रे डोला' के संगीत – लय – अभिनय से व्यावसायिक ग्लैमर को निर्मित करते हैं। भंसाली का निर्देशन कौशल शरत के 'देवदास' टैक्सट को विस्मृत कर देता है, उसके मूल स्वरूप के पैचोस (करूणा) को उजागर नहीं करता। उनकी देवदास फिल्म 'पारो' की ट्रेजडी नारी होती। मूल कथा का टैक्सट ही व्यावसायिक शर्तो की पूर्ति में डिस्ट्राट विनष्ट हो जाता है। जबकि एक ईमानदार फिल्मकार लेखक के टैक्सट और एम्बिएंस को जस का तस सम्प्रेषित करना चाहता है। एक बार अस्सी व,र्ीय कोंकणी लेखक रवीन्द्र केलेकर (ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त) ने अपनी व्यक्तिगत बातचीत में बरूआ और विमल राय के 'देवदास' और 'पारो' के पात्रों को यथार्थ का प्रतीक माना और संजय लीला भंसाली की फिल्म को व्यावसायिक भडैती और कला कृति के संदर्भ में भटकाव भरा नियन्ता।

शरत के 'देवदास' उपन्यासं के विश्लेषण हेतु हम समाजशास्त्रीय विवेचन (कलाकृति, रचनाकार व पाठक संदर्भ) मार्क्सवादी विवेचन (यथार्थ का कलात्मक प्रतिबिम्बन और विचारधारा) और मनोविश्लेषण (ईगो, क्षति–पूर्ति, पर्सोना और शेडो) के प्रतिमान लागू कर सकते हैं। पर विमलराय के 'देवदास' फिल्म की विवेचना हेतु प्रभाव विश्लेषण के लिए समाजशास्त्रीय और सौन्दर्यबोधी सरहदों को प्रत्यक्षीकरण, पैथोस – करूणा के आत्मसातीकरण की प्रतीति तक जाना होगा। पर संजय लीला भंसाली एन्थेटिक सेंसेबिलीटी की जगह एस्थेटिक विद्रूपता की सीमा तक प्रोफेशिएनल टैक्टिस अपना लेते हैं। संजय लीला भंसाली ग्लैमर, भव्यसेट और ऐश्वर्य – भाव के प्रदर्शन की लीला में, शरतचन्द्र के 'देवदास'गाथा के उत्स की सादगी, पीडा, आत्मसंघर्ष और आत्मत्याग की बलि चढा दिया है और शुद्ध व्यावसायिक लाभ को अपनाने की राह अख्तियार कर लेते हैं। अतः कौन से 'प्रतिमान' और 'विमर्श' यहाँ कारगर होंगे?

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सामन्ती उत्पीडन और पूँजीवादी विकास के दौर में नारी आज के दौर से कल्पनातीत स्तर पर पुरूष समाज से त्रस्त और पराधीन थी जिसे मिर्जा हादी रूसवा ने 'उमराव जान अदा' की जीवनी को आत्मकथात्मक और विवेचन शैली में पेश किया है। पैजाबाद की लडकी अमीरन अपहरण की जाकर,

... लखनऊ में किस प्रकार तवायफ उमराव जान से शायरा 'अदा' बनने का सफर तय करती है, उसका वर्णन इसमें अंकित है। नवाबों, सामन्तो, ठगों - उच्चकों और सामन्ती जीवन के ढकीसलों से परिपूर्ण लखनऊ शहर कैसे अपनी 'विडम्बना' और 'विसंगति' के परिवेश की गाथा का बायस बन जाता है, उसका कलात्मक प्रतिबिम्ब इसमें दर्शनीय है। रूप - सौन्दर्य, मधुर कण्ठ, नृत्य कला, नफासत तथा अदबी तौर - तरीकों के बावजूद उमरावजान लोकप्रियता और सम्मान पाने के बाद भी एलियेनेशन अकेलेपन का शिकार रहती है। मुहब्बत की आस, तडप और तलाश में भटकती नारी जाति की किरदार रहकर वह त्रासदी का शिकार बनती है। संवेदनशील होने के कारण अपनी त्रासद मनोव्यथा में एक इण्टेलेक्चुएल मौत को अख्तियार करती है।

मिर्जा हादी रूसवा के 'उमरावजान अदा' की तुलना एलेक्सान्द्र कुप्रिन के 'यामा द पिट' उपन्यास से की जा सकती है जो रहूस के सामन्ती काल और जारशाही के शासन में अभिशप्त वेश्याओं की त्रासदी दर्शाता है और उनकी जीवन-ऐषणाओं को भी। प्रेमचन्द उसी से प्रभावित होकर 'बाजार-ए-हुस्न' (सेवासदन) उपन्यास लिखते हैं। प्रोफेसर एहतेशाम हुसैन ने भी कहा है कि... 'उमरावजान 'अदा' उपन्यास में, एक वेश्या के चित्र के पीछे प्रत्येक वर्ग के लोग खडे दिख रडते है और वह लखनऊ हमारे सामने आ जाता है जो उन्नीसवीं शताब्दी के अंत के सामन्ती दौर में दम तोड रहा था। उपन्यास के बीच-बीच में शैरोशायरी और दिल फरेब किस्सों और किरदारों का जिक्र इसे पठनीय ही नहीं बल्तिक क्लासिक स्तर का नावेल प्रमाणित करता है।

लेखक मुमताज और शायर शहरयार के एक साक्षात्कार में वर्णन है कि 'शहर याने अलीगढ यूनिवर्सिटी में बीस वर्षो तक मैंने इस नावेल को पढाया है।'' इसी कारण यह उनकी शख्सियत का एक हिस्सा बना (पाण्डुलिपि - विमर्श अंक - 4 पृ. 255) और 'उमरावजान' फिल्म में 'दिल क्या चीज है । मेरी जान लीजिए । बस एक बार मेरा कहा। मान लीजिए।'' गीत आंतरिक अनुभूति का सबब बना है पर वे मानते हैं कि हमारी सौच और जीवन शैली में बहुत बडा क्रांतिकारी परिवर्तन सम्भव नहीं है। अभिनेत्री रेखा ने जिस प्रकार 'उमराव जान' फिल्म में अपने सशक्त अभिनय और उमराव जान के किरदार के साथ इनवाल्वमेण्ट की कशिश से उसे अपूर्व जीवन्तता प्रदान की है। उसने अपने नेत्रों की भाषा, हाव-भाव व मुद्राओं से संवाद अदायगी और राग-विराग की प्रतीति का आभास व प्रारूप रचा है। वह ऐश्वर्य राय के 'उमराव जान' के अभिनय कौशल में सम्भव नहीं है।

'उमराव जान' उपन्यास का टैक्सट पतनशील समाज में निम्न-मध्यवर्ग की नारी का, तवायफ वेश्यावृत्ति का शिकार बन जाना, संवेदनशील शायरा होने की वजह से मर्मान्तक पीडा झेलना रहा है। मुहब्बत की नाकाम कोशिश में, दर्द को शायरी का बायस बना लेना है। रेखा के अभिनय कौशल और सौन्दर्यमयी ऐश्वर्य राय के अभिनय - किरदार को पेश करने में निर्देशक के महत्व से हम इन्कार नहीं करते। पर हिन्दी सिनेमा व्यवसाय में गीत, संगीत और नृत्य ऐसे अनिवार्य अंग की तरह होते है कि उनकी अनुपस्थिती खुद फिल्म को आफबीट कर देती है। यही नहीं घटना-बहुलता, भावनात्मक उद्वेलन और अतार्किक और अतिरंजित स्थितियों और चरित्रों के द्वारा कथा का (विचित्र) ताना-बाना बुनना फिल्मांकन की विशेषता रहती है।

परन्तु हमारे 'प्रतिमानों की पुरोहिती' और 'विमर्श' की नौटंकी करनेवाले अधिकांश आलोचक रंगरूट क्या साहित्यशास्त्र, समाजशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र के उपादानों-प्रतिमानों की अन्तर्विद्यावर्ती अनुशासन की प्रविधि लेकर वर्तमान टेकनोलोजी, मीडिया और फिल्मांकन के क्षेत्र में मूल-टेक्सट और सेल्युलाईड पर्दे की कलात्मकता को वर्गचेतना के विकास, दर्शकीय अभिशंसा, यथार्थ के कलात्मक प्रतिबिम्बन की प्रक्रिया' तथा 'चेतना के रूपांतरण कर्म' पर क्या नया अध्या रचेंगे?

वर्तमान दौर प्रतीक्षा कर रहा है कि मकबूल फिदा हुसैन की पेण्टिंग्स को हम उसी तरह विवेचना का माध्यम बना पाये, जिस प्रकारपिकासो की गुएर्निका की रचना प्रक्रिया रही है, जो पिकासो की चित्रकला और उसके कला आन्दोलनों के सापेक्ष प्रभाव की विवेचना रही है या वान-गान की बदहवासी - गरीबी और संत्रास की स्थिति में सूरजमुखी फूलों की पेण्टिंग्स सम्बन्धी विवेचना रही है। हमें प्रतिमानों के नवीनीकरण और विमर्श की नयी संरचना पर नये सीरे से सोचना होगा।

कभी वागीश शुक्ल !! ने कहा था कि 'लेखक वेश्या होता है, उसका काम पाठकों को रिझाना है।' (अखिलेश : मकबूल फिदा हुसैन की जीवनी) xxx तो यह उनकी रसास्वादी, मनोरंजनवादी, कलावादी-शाश्वत सोच का प्रमाण हो सकता है शायद! पर हर आलोचक तो रचना का पिम्प या एजेण्ट नहीं होता है, जो रसास्वादन, वक्रोक्ति कथन, मुद्रा या सम्प्रेषण की मसनद बिछाता है, गाँव - तकिये सजाता है, अथवा सत्ता-व्यवस्था के गलियारे में 'राग दरबारी' गाकर 'हुजूर - दरबार' से अकादमी पुरस्कार प्राप्ति या वाहवाही का याचक बन जाता है।

वस्तुतः प्रतिबद्ध और विजन सम्पन्न आलोचक तो उस रचनाकार का सहयात्री (fellow travellers) होता है, जिसके पास आत्मचेतस जीवन दृष्टि, कला दृष्टि और वैश्विक विजन की समझ होती है, जो मानवीय चेतना, करूणा-विश्वास, आत्मोत्सर्ग और चारित्रिक उत्थान का बायस बनने की आवेग त्वरित कालयात्री बननने की क्षमता को मुक्तिबोधी आस्था को विसकित करना चाहता हो।

'प्रतिमानों की पुरोहिती' और 'विमर्श' की नौटंकी विभिन्न संस्थानों, विश्वविद्यालयों, कलाभवनों, सांस्कृतिक सभागारों, ... सत्ता-प्रतिष्ठान के गलियारों में रूलिंग क्लास के पक्ष में एक अलग स्टण्टबाजी और कलावादी उत्तर आधुनिकतावादी प्रवृत्ति में जारी है तो लोकचेतना, लोकेषणा और लोक-उत्थान के लिए प्रतिबद्ध हस्ताक्षर भी है और नये लेखक-पाठक भी, अपने जीवनानुभवों और यथार्थपरक विजन से सरे - राह चलने पर आमादा भी। 'प्रतिमान' और 'विमर्श' शाश्वत नहीं होते हैं वे युगीन अपेक्षा, तकनीकी विकास और परिवर्तनशील कला-कौशल के आधार पर पुनर्नवा रूप धारण कर लेते है। आमीन।

●●●